ज्ञान भंडारों पर एक दृष्टिपात

□ आगम प्रभाकर मुनि श्री पुण्य विजय जी

इस युग के विकसित साधन और विकसित व्यवहार की दृष्टि से लाइब्रेरी या पुस्तकालयों का विश्व में जो स्थान है वही स्थान पहले के समय में उस युग की मर्यादा के अनुसार भाण्डारों का था। धन, धान्य, वस्त्र, पात्र आदि सांसारिक चीजों के भाण्डारों की तरह शास्त्रों का भी भाण्डार अर्थात् संग्रह होता था जिसे धर्मजीवी और विद्याजीवी ऋषि-मुनि या विद्वान ही करते थे। यह प्रथा किसी एक देश, किसी एक धर्म या किसी एक परम्परा में सीमित नहीं रही है। भारतीय आर्यों की तरह ईरानी आर्य, क्रिश्चियन और मुसलमान भी अपने सम्मान्य शास्त्रों का संग्रह सर्वदा करते रहे हैं।

भाण्डार के इतिहास के साथ अनेक बातें संकलित हैं—लिपि, लेखन कला, लेखन के साधन, लेखन का व्यवसाय इत्यादि। परन्तु यहां तो मैं अपने लगभग चालीस वर्ष के प्रत्यक्ष अनुभव से जो बातें ज्ञात हुई हैं उन्हीं का संक्षेप में निर्देश करना चाहता हूं।

जहां तक मैं जानता हूं, कह सकता हूं कि भारत में दो प्रकार के भाण्डार मुख्यतया देखे जाते हैं—व्यक्तिगत मालिकी के और सांघिक मालिकी के। वैदिक परम्परा में पुस्तक संग्रहों का मुख्य सम्बन्ध ब्राह्मण वर्ग के साथ रहा है। ब्राह्मणवर्ग गृहस्थाश्रम प्रधान है। उसे पुत्र-परिवार आदि का परिग्रह भी इष्ट है—शास्त्रसम्मत है। अतएव ब्राह्मण-परम्परा के विद्वानों के पुस्तक-संग्रह प्रमुख रूप से व्यक्तिगत मालिकी के रहे हैं, और आज भी हैं। गुजरात, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, मिथिला या दक्षिण के किसी भी प्रदेश में जाकर पुराने ब्राह्मण-परम्परा के संग्रह को हम देखना चाहें तो वे किसी-न-किसी व्यक्तिगत कुटुम्ब की मालिकी के ही मिल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकते हैं। परन्तु भिक्षु-परम्परा में इससे उलटा प्रकार है। बौद्ध, जैन जैसी परम्पराएँ भिक्षु या श्रमण परम्परा में सम्मिलित हैं। यद्यपि भिक्षु या श्रमण गृहस्थों के अवलम्बन से ही धर्म या विद्या का संरक्षण, संवर्धन करते हैं तो भी उनका निजी जीवन और उद्देश अपरिग्रह के सिद्धान्त पर अवलम्बित है—उनका कोई निजी पुत्र-परिवार आदि नहीं होता। अतएव उनके द्वारा किया जाने वाला या संरक्षण पाने वाला ग्रन्थसंग्रह सांघिक मालिकी का रहा है और आज भी है। किसी बौद्ध विहार या किसी जैन संस्था में किसी एक आचार्य या विद्वान् का प्राधान्य कभी रहा भी हो तब भी उसके आश्रम में बने या संरक्षित ज्ञानभाण्डार तत्वतः संघ की मालिकी का ही रहता है या माना जाता है।

सामान्य रूप से हम यही जानते हैं कि इस देश में बौद्ध विहार न होने से बौद्ध संघ के भाण्डार भी नहीं हैं, परन्तु वस्तुस्थिति भिन्न है। यहां के पुराने बौद्ध विहारों के छोटे-बड़े अनेक पुस्तक-संग्रह कुछ उस रूप में और कुछ नया रूप लेकर भारत के पाड़ौसी अनेक देशों में गए। नेपाल, तिब्बत, चीन, सीलोन, बर्मा आदि अनेक देशों में पुराने बौद्ध शास्त्रसंग्रह आज भी सुलभ हैं।

जैन परम्परा के भिक्षु भारत के बाहर नहीं गए। इसलिए उनके शास्त्रसंग्रह भी प्रमुख रूप से भारत में ही रहे। शायद भारत का ऐसा कोई भाग नहीं जहाँ जैन पुस्तक-संग्रह थोड़े-बहुत प्रमाण में न मिले। दूर दक्षिण में कर्णाटक, आन्ध, तमिल आदि प्रदेशों से लेकर उत्तर के पंजाब, उत्तर प्रदेश तक और पूर्व के बंगाल, बिहार से लेकर पश्चिम के कच्छ, सौराष्ट्र तक जैन भाण्डार आज भी देखे जाते हैं, फिर भले ही कहीं वे नाम मात्र के हों। ये सब भाण्डार मूल में सांघिक मालिकी की हैसियत से ही स्थापित हुए हैं। सांघिक मालिकी के भाण्डारों का मुख्य लाभ यह है कि उनकी वृद्धि, संरक्षण आदि कार्यों में सारा संघ भाग लेता है और संघ के भिन्न-भिन्न दर्जे के अनुयायी गृहस्थ धनी उसमें अपना भक्तिपूर्वक साथ देते हैं, जिससे भाण्डारों की शास्त्रसमृद्धि बहुत बढ़ जाती है और उसकी रक्षा भी ठीक ठीक होने पाती है। यही कारण है कि बीच के अन्धाधुन्धी के समय सैकड़ों विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी हजारों की संख्या में पुराने भाण्डार सुरक्षित रहे और पुराने भाण्डारों की काया पर नए भाण्डारों की स्थापना तथा वृद्धि होती रही, जो परम्परा आज तक चल रही है।

इस विषय में एक -दो ऐतिहासिक उदाहरण काफी हैं। जब पाटन, खम्भात आदि स्थानों में कुछ उत्पात देखा तो आचार्यों ने बहुमूल्य शास्त्रसम्पत्ति जैसलमेर आदि दूरवर्ती संरक्षित स्थानों में स्थानान्तरित की। इससे उलटा, जहाँ ऐसे उत्पात का सम्भव न था वहाँ पुराने संग्रह वैसे ही रहे,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे कि कर्णाटक के दिगम्बर भाण्डार।

यों तो वैदिक, बौद्ध आदि परम्पराओं के ग्रन्थों के साथ मेरा वही भाव व सम्बन्ध है जैसा जैन-परम्परा के शास्त्र-संग्रहों के साथ, तो भी मेरे कार्य का प्रमुख सम्बन्ध परिस्थिति की दृष्टि से जैन भाण्डारों के साथ रहा है। इससे मैं उन्हीं के अनुभव पर यहां विचार प्रस्तुत करता हूं। भारत में कम से कम पांचसौ शहर, गांव, कस्बे आदि स्थान होंगे जहां जैन शास्त्रसंग्रह पाया जाता है। पांचसौ की संख्या—यह तो स्थानों की संख्या है, भाण्डारों की नहीं। भाण्डार तो किसी एक शहर, एक कस्बे या एक गांव में पन्द्रह-बीस से लेकर दो-तीन तक पाए जाते हैं। पाटन में बीस से अधिक भाण्डार हैं तो अहमदाबाद, सूरत, बीकानेर आदि स्थानों में भी दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह के आसपास होंगे। भाण्डार का कद भी सबका एकसा नहीं। किसी किसी भाण्डार में पचीस हजार तक ग्रन्थ हैं, तो किसी किसी में दो सौ, पांचसौ भी हैं। भाण्डारों का महत्व भिन्न-भिन्न दृष्टि से आंका जाता है—किसी में ग्रन्थराशि विपुल है तो विषय-वैविध्य कम है, किसी में विषय-वैविध्य बहुत अधिक है तो अपेक्षाकृत प्राचीनत्व कम है, किसी में प्राचीनता बहुत अधिक है, किसी में जैनेतर बौद्ध, वैदिक जैसी परम्पराओं के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ शुद्ध रूप में संगृहित हैं तो किसी में थोड़े ग्रन्थ ऐसे हैं जो उस भाण्डार के सिवाय दुनिया के किसी भाग में अभी तक प्राप्त नहीं हैं, विशेष रूप से ऐसे ग्रन्थ बौद्ध-परम्परा के है, किसी में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी, फारसी आदि भाषा-वैविध्य की दृष्टि से ग्रन्थराशि का महत्त्व है तो किसी किसी में पुराने ताड़पत्र और चित्रसमृद्धि का महत्त्व है।

सौराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान के अलग-अलग स्थानों में मैं रहा हूं और भ्रमण भी किया है। मैंने लगभग चालीस स्थानों के सब भाण्डार देखे हैं और लगभग पचास भाण्डारों में तो प्रत्यक्ष बैठकर काम किया है। इतने परिमित अनुभव से भी जो साधन-सामग्री ज्ञात एवं हस्तगत हुई है उसके आधार पर मैं कह सकता हूं कि वैदिक, बौद्ध एवं जैन परम्परा के प्राचीन तथा मध्ययुगीन शास्त्रों के संशोधन आदि में जिन्हें रस है उनके लिये अपरिमित सामग्री उपलब्ध है।

श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी और तेरहपंथी—इन चार फिरकों के आश्रित जैन भाण्डार हैं। यों तो मैं उक्त सब फिरकों के भाण्डारों से थोड़ा बहुत परिचित हूं तो भी मेरा सबसे अधिक परिचय तथा प्रत्यक्ष सम्बन्ध श्वेताम्बर परम्परा के भाण्डारों से ही रहा है। मेरा ख्याल है कि विषय तथा भाषा के वैविध्य की दृष्टि से, ग्रन्थ संख्या की दृष्टि से, प्राचीनता की दृष्टि से, ग्रन्थों के कद, प्रकार, अलंकरण आदि की दृष्टि से तथा अलभ्य, दुर्लभ और सुलभ परन्तु शुद्ध ऐसे बौद्ध, वैदिक जैसी जैनेतर परम्पराओं के बहुमूल्य विविध विषयक ग्रन्थों के संग्रह की दृष्टि से श्वेताम्बर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परम्परा के अनेक भाण्डार इतने महत्त्व के हैं जितने महत्त्व के अन्य स्थानों के नहीं।

माध्यम की दृष्टि से मेरे देखने में आए ग्रन्थों के तीन प्रकार हैं—ताड़पत्र, कागज और कपड़ा। ताड़पत्र के ग्रन्थ विक्रम की नवीं शती से लेकर सोलहवीं शती तक के मिलते हैं। कागज के ग्रन्थ जैन भाण्डारों में विक्रम की तेरहवीं शती के प्रारम्भ से अभी तक के मौजूद हैं। यद्यपि मध्य एशिया के यारकन्द शहर से दक्षिण की ओर ६० मील पर कुगियर स्थान से प्राप्त कागज के चार ग्रन्थ लगभग ई.स. की पांचवी शती के माने जाते हैं, परन्तु इतना पुराना कोई ताड़पत्रीय या कागजी ग्रन्थ अभी तक जैन भाण्डारों में से नहीं मिला। परन्तु इसका अर्थ इतना ही है कि पूर्वकाल में लिखे गए ग्रन्थ जैसे जैसे बूढ़े हुए—नाशाभिमुख हुए—वैसे वैसे उनके उपर से नई नई नकलें होती गई और नए रचे जाने वाले ग्रन्थ भी लिखे जाने लगे। इस तरह हमारे सामने जो ग्रन्थ-सामग्री मौजूद है उसमें मेरी दृष्टि से, विक्रम की पूर्व शताब्दियों से लेकर नवीं शताब्दी तक के ग्रन्थों का अवतरण है और नवीं शताब्दी के बाद नए रचे गए ग्रन्थों का भी समावेश है।

मेरे देखे हुए ग्रन्थों में ताड़पत्रीय ग्रन्थों की संख्या लगभग ३,००० (तीन हजार) जितनी और कागज के ग्रन्थों की संख्या तो दो लाख से कहीं अधिक है। यह कहने की जरूरत नहीं कि इसमें सब जैन फिरकों के सब भाण्डारों के ग्रन्थों की संख्या अभिप्रेत नहीं है, वह संख्या तो दस-पन्द्रह लाख से भी कहीं बढ़ जायेगी।

भिन्न-भिन्न अपेक्षा से भाण्डारों का वर्गीकरण नीचे लिखे अनुसार किया जा सकता है। इतना ध्यान में रहे कि यह वर्गीकरण स्थूल है।

प्राचीनता की दृष्टि से तथा चित्रपट्टिका एवं अन्य चित्रसमृद्धि की दृष्टि से और संशोधित तथा शुद्ध किए हुए आगमिक साहित्य की एवं तार्किक, दार्शनिक साहित्य की दृष्टि से—जिसमें जैन परम्परा के अतिरिक्त वैदिक और बौद्ध परम्पराओं का भी समावेश होता है—पाटन, खम्भात और जैसलमेर के ताड़पत्रीय संग्रह प्रथम आते हैं। इनमें से जैसलमेर का खरतर-आचार्य श्रीजिनभद्रसूरि संस्थापित ताड़पत्रीय भाण्डार प्रथम ध्यान खींचता है। नवीं शताब्दी वाला ताड़पत्रीय ग्रन्थ विशेषावश्यक महाभाष्य जो लिपि, भाषा और विषय की दृष्टि से महत्त्व रखता है वह पहले पहल इसी संग्रह से मिला है। इस संग्रह में जितनी और जैसी प्राचीन चित्रपट्टिकाएं तथा अन्य पुरानी चित्र-समृद्धि है उतनी पुरानी और वैसी किसी एक भाण्डार में लभ्य नहीं। इसी ताड़पत्रीय संग्रह में जो आगमिक ग्रन्थ हैं वे बहुधा संशोधित और शुद्ध किए हुए हैं। वैदिक परम्परा के विशेष शुद्ध और महत्त्व के कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जो इस संग्रह में हैं। इसमें सांख्यकारिका परका गौडपाद-भाष्य तथा इतर वृत्तियां है। योगसूत्र के ऊपर की व्यासभाष्य सहित तत्त्ववैशारदी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टीका है। गीता का शांकरभाष्य और श्रीहर्ष का खण्डनखण्डखाद्य है। वैशेषिक और न्यायदर्शन के भाष्य और उनके उपर की क्रमिक उदयनाचार्य तक की सब टीकाएं मौजूद हैं। न्यायसूत्र उपर का भाष्य, उसका वार्तिक, वार्तिक पर की तात्पर्यटीका और तात्पर्यटीका पर तात्पर्यपरिशुद्धि तथा इन पांचों ग्रन्थों के उपर विषमपद-विवरणरूप 'पंचप्रस्थान' नामक एक अपूर्व ग्रन्थ इसी संग्रह में है। बौद्ध परम्परा के महत्त्वपूर्ण तर्क-ग्रन्थों में से सटीक सटिप्पण न्यायबिन्दु तथा सटीक सटिप्पण तत्त्वसंग्रह जैसे कई ग्रन्थ हैं। यहां एक वस्तु की ओर मैं खास निर्देश करना चाहता हूं जो संशोधकों के लिये उपयोगी है। अपभ्रंश भाषा के कई अप्रकाशित तथा अन्यत्र अप्राप्य ऐसे बारहवीं शती के बड़े बड़े कथा-ग्रंथ इस भाण्डार में हैं, जैसे कि विलासवईकहा, अरिट्ठनेमिचरिउ इत्यादि। इसी तरह छन्द विषयक कई ग्रन्थ हैं जिनकी नकलें पुरातत्त्वविद श्री जिनविजयजी ने जैसलमेर में जाकर कराई थी। उन्हीं नकलों के आधार पर प्रोफेसर वेलिनकर ने उनका प्रकाशन किया है।

खम्भात के श्रीशान्तिनाथ ताड़पत्रीय ग्रन्थभाण्डार की दो-एक विशेषताएं ये हैं। उसमें चित्र-समृद्धि तो है ही, पर गुजरात के सुप्रसिद्ध मंत्री और विद्वान् वस्तुपाल की स्वहस्तलिखित धर्माभ्युदय महाकाव्य की प्रति है। पाटन के तीन ताड़पत्रीय संग्रहों की अनेक विशेषताएं हैं। उनमें से एक तो यह है कि वहीं से धर्म कीर्ति का हेतुबिन्दु अर्चट की टीका वाला प्राप्त हुआ, जो अभी तक मूल संस्कृत में कहीं से नहीं मिला। जयराशिका तत्त्वोपप्लव जिसका अन्यत्र कोई पता नहीं वह भी यहीं से मिला।

कागज-ग्रन्थ के अनेक भाण्डारों में से चार-पांच का निर्देश ही यहां पर्याप्त होगा। पाटनगत तपागच्छ का भाण्डार गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी और फारसी भाषा के विविध विषयक सैकड़ों ग्रन्थों से समृद्ध हैं, जिसमें 'आगमडम्बर' नाटक भी है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। पाटनगत भाभा के पाडे का भाण्डार भी कई दृष्टि से महत्त्व का है। अभी अभी उसमें से छठी-सातवीं शती के बौद्ध तार्किक आचार्य श्री धर्मकीर्ति के सुप्रसिद्ध 'प्रमाणवार्तिक' ग्रन्थ की स्वोपज्ञ वृत्ति मिली है जो तिब्बत से भी आज तक प्राप्त नहीं हुई। खम्भात स्थित जैनशाला का भाण्डार भी महत्त्व रखता है। उसी में वि.सं. १२३४ की लिखी जिनेश्वरीय 'कथाकोश' की प्रति है। जैन भाण्डारों में पाई जाने वाली कागज की पोथियों में यह सबसे पुरानी है। आठ सौ वर्ष के बाद आज भी उसके कागज की स्थिति अच्छी है। उपाध्याय श्री यशोविजयजी के स्वहस्त-लिखित कई ग्रन्थ, जैसे कि विषयतावाद, स्तोत्रसंग्रह आदि, उसी भाण्डार से अभी अभी मुझे मिले हैं। जैसलमेर के एक कागज के भाण्डार में न्याय और वैशेषिक दर्शन के सूत्र, भाष्य, टीका, अनुटीका आदि का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूरा सेट बहुत शुद्ध रूप में तथा सटिप्पण विद्यमान है, जो वि.सं. १२७९ में लिखा गया है। अहमदाबाद के केवल दो भाण्डारों का ही मैं निर्देश करता हूं। पगथिया के उपाश्रय के संग्रहों में से उपाध्याय श्री यशोविजयजी के स्वहस्तलिखित प्रमेयमाला तथा वीतरागस्तोत्र अष्टम प्रकाश की व्याख्या—ये दो ग्रन्थ अभी अभी आचार्य श्री विजयमनोहरसूरिजी द्वारा मिले हैं। बादशाह जहांगीर द्वारा सम्मानित विद्वान् भानुचन्द्र और सिद्धिचन्द्र रचित कई ग्रन्थ इसी संग्रह में है, जैसे कि नैषध की तथा वासवदत्ता की टीका आदि। देवशा के पाडे का संग्रह भी महत्त्व का है। इसमें भी भानुचन्द्र, सिद्धिचन्द्र के अनेक ग्रन्थ सुने गए हैं।

कपड़े पर पत्राकार में लिखा अभी तक एक ही ग्रन्थ मिला है, जो पाटनगत श्रीसंघ के भाण्डार का है। यों तो रोल-टिप्पने के आकार के कपड़े पर लिखे हुए कई ग्रन्थ मिले हैं, पर पत्राकार लिखित यह एक ही ग्रन्थ है।

सोने-चांदी की स्याही से बने तथा अनेक रंग वाले सैकड़ों नानाविध चित्र जैसे ताड़पत्रीय ग्रन्थों पर मिलते हैं वैसे ही कागज के ग्रन्थों पर भी है। इसी तरह कागज तथा कपड़े पर आलिखित अलंकारस्वचित विज्ञप्तिपत्र, चित्रपट भी बहुतायत से मिलते हैं। पाठे (पढ़ते समय पन्ने रखने तथा प्रताकार ग्रन्थ बांधने के लिये जो दोनों और गत्ते रखे जाते हैं—पुट्ठे), डिब्बे आदि भी सचित्र तथा विविध आकार के प्राप्त होते हैं। डिब्बों की एक खूबी यह भी है कि उनमें से कोई चर्मजटित है, कोई वस्त्र जटित है तो कोई कागज से मढ़े हुए हैं। जैसी आजकल की छपी हुई पुस्तकों की जिल्दों पर रचनाएं देखी जाती हैं वैसी इन डिब्बों पर भी ठप्पों से-सांचों से ढाली हुई अनेक तरह की रंग-बिरंगी रचनाएं हैं।

ताड़पत्र, कागज, कपड़ा आदि पर किन साधनों से किस किस तरह लिखा जाता था? ताड़पत्र तथा कागज कहां कहां से आते थे? वे कैसे लिखने लायक बनाए जाते थे? सोने, चांदी की स्याही तथा अन्य रंग कैसे तैयार किए जाते थे?, चित्र की तूलिका आदि कैसे होते थे? इत्यादि बातों का यहां तो मैं संक्षेप में ही निर्देश करूंगा। बाकी, इस बारे में मैंने अन्यत्र विस्तार से लिखा है।

लेखन विषयक सामग्री

ताड़पत्र और कागज—ज्ञानसंग्रह लिखवाने के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के अच्छे से अच्छे ताड़पत्र और कागज अपने देश के विभिन्न भागों में से मंगाए जाते थे। ताड़पत्र मलबार आदि स्थानों में से आते थे। पाटन और खम्भात के ज्ञानभाण्डारों से इस बारे के पन्द्रहवीं शती के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्त के समय के उल्लेख उपलब्ध होते हैं । वे इस प्रकार हैं :—

॥सं. १४८९ वर्षे ज्ये. वदि ।पत्र ३५४ मलबारनां ॥वर्य पृथुल संचयः ॥श्री ॥

पाटन के भाण्डारों में से भी इसी से मिलता-जुलता उल्लेख मिला था । उसमें तो एक पन्ने की कीमत भी दी गई थी । यद्यपि वह पन्ना आज अस्तव्यस्त हो गया है फिर भी उसमें आए हुए उल्लेख के स्मरण के आधार पर एक पन्ना छह आने का आया था । ग्रन्थ लिखने के लिये जिस तरह ताड़पत्र मलबार जैसे सुदूरवर्ती देश से मंगाए जाते थे, उसी तरह अच्छी जात के कागज काश्मीर और दक्षिण जैसे दूर के देशों से मंगाए जाते थे । गुजरात में अहमदाबाद, खम्भात, सूरत आदि अनेक स्थानों में अच्छे और मजबूत कागज बनते थे । इधर के व्यापारी अभी तक अपनी बहियों के लिये इन्हीं स्थानों के कागज का उपयोग करते रहे हैं । शास्त्र लिखने के लिये सूरत से कागज मंगाने का एक उल्लेख संस्कृत पद्य में मिलता है । वह पद्य इस प्रकार है :—

"सूरात्पुरतः कोरकपत्राण्यादाय चेतसो भक्त्या ।
लिखिता प्रतिः प्रशस्ता प्रयत्नतः कनकसोमेन ॥"

इसका सारांश यह है कि सूरत शहर से कोरे कागज लाकरके हार्दिक भक्ति से कनकसोम नामक मुनि ने प्रयत्नपूर्वक यह प्रति लिखी है ।

ताड़पत्र में मोटी-पतली, कोमल-रूक्ष, लम्बी-छोटी, चौड़ी-संकरी आदि अनेक प्रकार की जातें थी । इसी प्रकार कागजों में भी मोटी पतली, सफेद—सांवलापन ली हुई, कोमल-रूक्ष, चिकनी-सादी आदि अनेक जातें थी । इनमें से शास्त्रलेखन के लिये, जहां तक हो सकता था वहां तक, अच्छे से अच्छे ताड़पत्र और कागज की पसंदगी की जाती थी । कागज की अनेक जातों में से कुछ ऐसे भी कागज आते थे जो आजकल के कार्ड के जैसे मोटे होने के साथ ही साथ मजबूत भी होते थे । कुछ ऐसे कागज थे जो आज के पतले बटर पेपर की अपेक्षा भी कहीं अधिक महीन होते थे । इन कागजों की एक यह विशेषता थी कि उस पर लिखा हुआ दूसरी ओर फैलता नहीं था । ऊपर जिसका उल्लेख किया गया है वैसे बारीक और मोटे कागजों के ऊपर लिखी हुई ढेर की ढेर पुस्तकें इस समय भी हमारे ज्ञान भाण्डारों में विद्यमान है । इसके अतिरिक्त, हमारे इन ज्ञानभाण्डारों को यदि पृथक्करण किया जाय तो, प्राचीन समय में हमारे देश में बनने वाले कागजों की विविध जातें हमारे देखने में आएंगी । ऊपर कही हुई कागज की जातों में से कुछ ऐसी भी जातें है जो चार सौ, पांच सौ वर्ष बीतने पर भी धुंधली नहीं पड़ी है । यदि इन ग्रन्थों को हम देखें तो हमें ऐसा ही मालूम होगा कि मानो ये नई पोथियां हैं ।

स्याही—ताड़पत्र और कागज के ऊपर लिखने की स्याहियां भी खास विशेष प्रकार की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बनती थी। यद्यपि आजकल भी ताड़पत्र पर लिखने की स्याही की बनावट के तरीकों के विविध उल्लेख मिलते हैं, फिर भी उसका सच्चा तरीका, पन्द्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध में लेखन के वाहन के रूप में कागज की ओर लोगों का ध्यान सविशेष आकर्षित होने पर, बहुत जल्दी विस्मृत हो गया। इस बात का अनुमान हम पन्द्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध में लिखी गई अनेक ताड़पत्रीय पोथियों के उखड़े हुए अक्षरों को देखकर कर सकते हैं। पन्द्रहवीं शती के पूर्वार्द्ध में लिखी हुई ताड़पत्र की पोथियों की स्याही की चमक और उसी शती के उत्तरार्द्ध में लिखी हुई ताड़पत्र की पोथियों की स्याही की चमक में हम जमीन-आसमान का फर्क देख सकते हैं। अलबत्ता, पन्द्रहवीं शती के अंत में धरणा शाह आदि ने लिखवाई हुई ताड़पत्रीय ग्रन्थों की स्याही कुछ ठीक है, फिर भी उसी शती के पूर्वार्द्ध में लिखी गई पोथियों की स्याही के साथ उसकी तुलना नहीं की जा सकती। कागज के ऊपर लिखने की स्याही का खास प्रकार आज भी जैसे का तैसा सुरक्षित रहा है अर्थात् यह स्याही चिरकाल तक टिकी रहती है और ग्रन्थ को नहीं बिगाड़ती।

रंग—जिस तरह ग्रन्थों के लेखन आदि के लिये काली, लाल, सुनहली, रूपहरी आदि स्याहियां बनाई जाती थीं उसी तरह ग्रन्थ आदि में वर्णित विषय के अनुरूप विविध प्रकार के चित्रों के आलेखन के लिये अनेक प्रकार के रंगों की अनिवार्य आवश्यकता होती थी। ये रंग विशेष खनिज और वनस्पति आदि पदार्थ तथा उनके मिश्रण में से सुंदर रूप से बनाए जाते थे। यह बात हम हमारी आंखों के सामने आने वाले सैकड़ों सचित्र ग्रन्थ देखने से समझ सकते हैं। रंगों का यह मिश्रण ऐसी सफाई के साथ और ऐसे पदार्थों का किया जाता था, जिससे वह ग्रन्थ को खा न डाले और खुद भी निस्तेज और धुंधला न पड़े।

लेखनी—जिस तरह लिखने के लिये द्रव द्रव्य के रूप में स्याही आवश्यक वस्तु है उसी तरह लिखने के साधन रूप से कलम, तूलिका आदि भी आवश्यक पदार्थ हैं। यद्यपि अपनी अपनी सुविधा के अनुसार अनेक प्रकार के सरकण्डे तथा नरकट में से कलमें बना ली जाती थीं, फिर भी ग्रंथ लिखने वाले लहिए या लेखक को सतत और व्यवस्थित रूप से लिखना पड़ता था, इसलिये खास विशेष प्रकार के सरकण्डे पसंद किए जाते थे। ये सरकण्डे विशेषत: अमुक प्रकार के बांस के, काले सरकण्डे अथवा दालचीनी की लकड़ी जैसे पीले और मजबूत नरकट अधिक पसंद किए जाते थे। इनमें से भी काले सरकण्डे अधिक पसन्द किए जाते थे।

इन सरकण्डों के गुण-दोष का विचार भी हमारे प्राचीन ग्रन्थों में किया गया है कि कलम कैसे बनानी तथा उसका कटाव कैसा होना चाहिए इत्यादि। कलम के नाप आदि के लिये भी भिन्न भिन्न प्रकार की मान्यताएं हमारे यहां प्रचलित हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मषीभाजन–दावात—स्याही भरने के लिये हमारे यहां कांच की, सफाईदार मिट्टी की तथा धातु आदि अनेक प्रकार की दावातें बनती होंगी और उनका उपयोग किया जाता होगा। परन्तु उनके आकार-प्रकार प्राचीन युग में कैसे होंगे—यह जानने का विशिष्ट साधन इस समय हमारे सम्मुख नहीं हैं। फिर भी आज हमारे सामने दो सौ, तीन सौ वर्ष की धातु की विविध प्रकार की दावातें विद्यमान हैं और हमारे अपने जमाने के पुराने लेखक तथा व्यापारी स्याही भरने के लिये जिन दावातों तथा डिब्बियों का उपयोग करते आए हैं उन पर से उनके आकार आदि के बारे में हमें कुछ पता लग सकता है। सामान्य रूप से विचार करने पर ऐसा मालूम होता है कि कांच या मिट्टी की दावातों की तरह टूटने का भय न रहे इसलिए पीतल जैसी धातु की दावातें और डिब्बियां ही अधिक पसंद की जाती होंगी।

ओलिया अथवा **फांटिया**—ग्रन्थ लिखते समय लिखाई की पंक्तियां बराबर सीधी लिखने के लिये ताड़पत्र आदि के ऊपर उस जमाने में क्या करते होंगे यह हम नहीं जानते, परन्तु ताड़पत्रीय पुस्तकों की जांच करने पर अमुक पुस्तकों के प्रत्येक पन्ने की पहली पंक्ति स्याही से खींची हुई दिखाई देती है। इससे ऐसा सम्भव प्रतीत होता है कि पहली पंक्ति के अनुसार अनुमान से सीधी लिखाई लिखी जाती होगी। कागज के ऊपर लिखे हुए कुछ ग्रन्थों में भी ऊपर की पहली लकीर स्याही से खींची हुई दीख पड़ती है। इस से ऐसा मालूम होता है कि जब तक 'ओलिया' जैसे साधन की खोज नहीं हुई होगी अथवा वह जब तक व्यापक नहीं हुआ होगा तब तक उपर्युक्त तरीके से अथवा उससे मिलते-जुलते किसी दूसरे तरीके से काम लिया जाता होगा। परन्तु ग्रन्थ-लेखन के लिये कागज व्यापक बनने पर लिखाई सरलता से सीधी लिखी जा सके इसलिये 'ओलिया' बनाने में आया। यह 'ओलिया' गत्ता अथवा लकड़ी की पतली पट्टी में समान्तर सुराख करके और उनमें धागा पिरोकर उस पर—धागा इधर उधर न हो जाय इसलिये—श्लेष (गोंद जैसे चिकने) द्रव्य लगाकर बनाया जाता था। इस तरीके से तैयार हुए ओलिये के ऊपर पन्ना रखकर एक के बाद दूसरी, इस तरह समूची पंक्ति पर उँगली से दबाकर लकीर खींची जाती थी। लकीर खींचने के इस साधन को **'ओलिया'१** अथवा **'फांटिया'** कहते हैं। गुजरात और मारवाड़ के लहिए आज भी इस साधन का व्यापक रूप से उपयोग करते हैं। इस साधन द्वारा तह लगाकर खींची हुई लकीरें प्रारम्भ में आजकल के वोटरकलर की लकीरों वाले कागज की लकीर जैसी दिखाई देती है, परन्तु पुस्तक बांधने पर तथा तह बैठ जाने पर लिखावट स्वाभाविकसी दीख पड़ती है।

जुजवल और प्राकार—पन्नों के ऊपर अथवा यंत्रपट आदि में लकीरें खींचने के लिये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि कलम का उपयोग किया जाय तो उसकी बारीक नोक थोड़ी ही देर में कूंची जैसी हो जाय। इसलिये हमारे यहां प्राचीन समय में लकीरें खींचने के लिये जुजवल का प्रयोग किया जाता था। इसका अग्रभाग चिमटे की तरह दो तरफ मोड़कर बनाया जाता है। इसलिये इसे जुजवल अथवा जुजबल कहते हैं। यह किसी-न-किसी धातु का बनाया जाता है। इसी तरह यंत्रपटादि में गोल आकृति खींचने के लिये प्राकार (परकाल, अं. Compass) भी बनते थे। इस प्रकार का लकीर खींचने की तरफा का मुंह जुजवल से मिलता जुलता होता है, जिससे गोल आकृति खींचने के लिये उसमें स्याही ठहर सके।

लिपि—जैन ज्ञानभाण्डारगत शास्त्रों की लिपि की पहचान कुछ विद्वान जैन लिपि के नाम से कराते हैं। सामान्यत: लिपि का स्वरूप प्रारम्भ में एक जैसा होने पर भी समय के प्रवाह के साथ विविध स्वभाव, विविध देश एवं लिपियों के सम्पर्क और विभिन्न परिस्थिति के कारण वह भिन्न भिन्न नाम से पहचानी जाती है। यही सिद्धान्त जैन-लिपि के बारे में भी लागू होता है। उदाहरणार्थ, हम भारतवर्ष की प्रचलित लिपियों को ही देखें। यद्यपि ये सब एक ही ब्राह्मी लिपि की सहोदर लड़कियां है, फिर भी आज तो वे सब सौतिली लड़कियां जैसी बन गई है। यही बात इस समय प्रचलित हमारी देवनागरी लिपि को भी लागू होती है जो कि हिन्दी, मराठी, ब्राह्मण और जैन आदि अनेक विभागों में विभक्त हो गई है। जैन-लिपि भी लेखन प्रणाली के वैविध्य को लेकर यतियों की लिपि, खरतर गच्छ की लिपि, मारवाड़ी लेखकों की लिपि, गुजराती लेखकों की लिपि आदि अनेक विभागों में विभक्त है। ऐसा होने पर भी वस्तुत: यह सारा लिपिभेद लेखनप्रणाली के ही कारण पैदा हुआ है। बाकी, लिपि के मौलिक स्वरूप की जिसे समझ है उसके लिये जैन-लिपि जैसी कोई वस्तु ही नहीं है। प्रसंगोपात्त हम यहां पर एक ॐकार अक्षर ही लें। जैन-लिपि और मराठी, हिन्दी आदि लिपि में भिन्न भिन्न रूप से दिखाई देने वाले इस अक्षर के बारे में यदि हम नागरी लिपि का प्राचीन स्वरूप जानते हों तो सरलता से समझ सकते हैं कि सिर्फ अक्षर के मरोड़ में से ही ये दो आकृतिभेद पैदा हुए हैं। वस्तुत: यह कुछ जैन या वैदिक ॐकार का भेद ही नहीं है। लिपिमाला की दृष्टि से ऐसे तो अनेक उदाहरण हम दे सकते हैं। इसलिये यदि हम अपनी लिपिमाला के प्राचीन-अर्वाचीन स्वरूप जान लें तो लिपिभेद का विषय हमारे सामने उपस्थित ही नहीं होता। जैन ग्रन्थों की लिपि में सत्रहवीं शती के अन्त तक पृष्ठमात्रा-पाडमात्रा और अग्रमात्रा का ही उपयोग अधिक प्रमाण में हुआ है, परन्तु उसके बाद पृष्ठमात्राने ऊर्ध्वमात्रा का और अग्रमात्रा ने अधोमात्रा का स्वरूप धारण किया। इसके परिणामस्वरूप बाद के जमाने में लिपि का स्वरूप संक्षिप्त और छोटा हो गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेखक अथवा **लहिया**—अपने यहां ग्रन्थ लिखने वाले लेखक अथवा लहिए कायस्थ, ब्राह्मण आदि अनेक जातियों के होते थे। कभी कभी तो पीढ़ी दर पीढ़ी उनका यह अविच्छिन व्यवसाय बना रहता था। ये लेखक जिस तरह लिख सकते थे उसी तरह प्राचीन लिपियां भी विश्वस्त रूप से पढ़ सकते थे। लिपि के प्रमाण और सौष्ठव का उनका बहुत व्यवस्थित ज्ञान रहता था। लिपि की मरोड़ या उसका विन्यास भिन्न भिन्न संस्कार के अनुसार भिन्न भिन्न रूप लेता था और लिपि के प्रमाण के अनुसार आकार-प्रकार में भी विविधता होती थी। कोई लेखक लम्बे अक्षर लिखते तो कोई चपटे, जबकि कोई गोल लिखते। कोई लेखक दो पंक्तियों के बीच मार्जिन कम से कम रखते तो कोई अधिक रखते। पिछली दो-तीन शताब्दियों को बाद करें तो खास करके लिपि का प्रमाण ही बड़ा रहता और पंक्तियों के ऊपर-नीचे का मार्जिन कम से कम रहता। वे अक्षर स्थूल भी लिख सकते थे और बारीक से बारीक भी लिख सकते थे।

लेखकों के बहम भी अनेक प्रकार के थे। जब किसी कारणवश लिखते लिखते उठना पड़े तब अमुक अक्षर आए तभी लिखना बन्द करके उठते, अन्यथा किसी-न-किसी प्रकार का नुकसान उठाना पड़ता है—ऐसी उनमें मान्यता प्रचलित थी। जिस तरह अमुक व्यापारी दूसरे का रोजगार खूब अच्छी तरह से चलता हो तब ईर्ष्यावश उसे हानि पहुंचाने के उपाय करते हैं, उसी तरह लहिए भी एक-दूसरे के धन्धे में अन्तराय डालने के लिये स्याही की चालू दावात में तेल डाल देते, जिससे कलम के ऊपर स्याही ही जमने न पाती और उसके दाग कागज पर पड़ने लगते। विशेष करके ऐसा काम कोई विशेष रूप से मारवाड़ी लहिये ही करते थे किन्तु ऐसी प्रवृत्ति को कुसमादी—कमीनापन ही कहा जाता था। कुछ लहिए जिस फट्टी पर पन्ना रखकर पुस्तक लिखते उसे खड़ी रख करके लिखते तो कुछ आड़ी रख कर लिखते, जब कि काश्मीरी लहिए ऐसे सिद्धहस्त होते थे कि पन्ने के नीचे फट्टी या वैसा कोई सहारा रखे बिना ही लिखते थे। अधिकतर लहिए आड़ी फट्टी रख कर ही लिखते हैं, परन्तु जोधपुरी लहिए फट्टी खड़ी रखकर लिखते हैं। उनका मानना है "कि आड़ी पाटी से लुगाइयां लिखें, मैं तो मरद हों सा!" इसके अतिरिक्त अपने धन्धे के बारे में ऐसी बहुत सी बातें हैं जिन्हें लहिए पसन्द नहीं करते। वे अपनी बैठने की गद्दी पर दूसरे किसी को बैठने नहीं देते, अपनी चालू दावात में से किसी को स्याही भी नहीं देते और अपनी चालू कलम भी किसी को नहीं देते। लहियों के बारे में इस तरह की विविध हकीकतों के सूचक बहुत से सुभाषित आदि हमें प्राचीन ग्रन्थों में से मिलते हैं, जो उनके गुण-दोष, उनके उपयोग की वस्तुओं तथा उनके स्वभाव आदि का निर्देश करते है। जिस तरह लहिए ग्रन्थ लिखते थे उसी तरह जैन साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविकाएँ भी सौष्ठवपरिपूर्ण लिपि से शास्त्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिखते थे। जैन साध्वियों द्वारा तथा देवप्रसाद (वि.सं. ११५७) जैसे श्रावक अथवा सावदे (अनुमानतःविक्रम की १४वीं शती), रूपादे आदि श्राविकाओं द्वारा लिखे गए ग्रन्थ तो यद्यपि बहुत ही कम हैं परन्तु जैन साधु एवं जैन आचार्यों के लिखे ग्रन्थ तो सैकड़ों की संख्या में उपलब्ध होते हैं।

पुस्तकों के प्रकार—प्राचीन काल में (लगभग विक्रम की पांचवी शती से लेकर) पुस्तकों के आकार-प्रकार पर से उनके गण्डीपुस्तक, मुष्टिपुस्तक, संपुटफलक, छेदपाटी जैसे नाम दिए जाते थे। इन नामों का उल्लेख निशीथभाष्य और उसकी चूर्णि आदि में आता है। जिस तरह पुस्तकों के आकार-प्रकार पर से उन्हें उपर्युक्त नाम दिए गए हैं उसी तरह बाद के समय में अर्थात् पन्द्रहवीं शती से पुस्तकों की लिखाई के आकार-प्रकार पर से उनके विविध नाम पड़े हैं, जैसे कि शूड़ अथवा शूढ़ पुस्तक, द्विपाठ पुस्तक, पंचपाठ पुस्तक, सस्तबक पुस्तक। इनके अतिरिक्त चित्रपुस्तक भी एक प्रकारान्तर है। चित्रपुस्तक अर्थात् पुस्तकों में खींचे गए चित्रों की कल्पना कोई न करे। यहां पर 'चित्रपुस्तक' इस नाम से मेरा आशय लिखावट की पद्धति में से निष्पन्न चित्र से है। कुछ लेखक लिखाई के बीच ऐसी सावधानी के साथ जगह खाली छोड़ देते हैं जिससे अनेक प्रकार के चौकोर, तिकोन, षट्कोण, छत्र, स्वस्तिक, अग्निशिखा, वज्र, डमरू, गोमूत्रिका आदि आकृतिचित्र तथा लेखक के विवक्षित ग्रन्थनाम, गुरुनाम अथवा चाहे जिस व्यक्ति का नाम या श्लोक-गाथा आदि देखे किंवा पढ़े जा सकते हैं। अतःइस प्रकार के पुस्तक को हम 'रिक्तलिपिचित्रपुस्तक' इस नाम से पहचानें तो वह युक्त ही होगा। इसी प्रकार, ऊपर कहा उस तरह, लेखक लिखाई के बीच में खाली जगह न छोड़कर काली स्याही से अविच्छिन्न लिखी जाती लिखावट के बीच में के अमुक-अमुक अक्षर ऐसी सावधानी और खूबी से लाल स्याही से लिखते जिससे उस लिखावट में अनेक चित्राकृतियां, नाम अथवा श्लोक आदि देखे-पढ़े जा सकते। ऐसी चित्रपुस्तकों को हम 'लिपिचित्रपुस्तक' के नाम से पहचान सकते हैं। इसके अतिरिक्त 'अंकस्थानचित्रपुस्तक' भी चित्रपुस्तक का एक दूसरा प्रकारान्तर है। इसमें अंक के स्थान में विविध प्राणी, वृक्ष, मन्दिर आदि की आकृतियां बनाकर उनके बीच पत्रांक लिखे जाते हैं। चित्र-पुस्तक के ऐसे कितने ही इतर प्रकारान्तर हैं।

ग्रन्थ संशोधन, उसके साधन तथा चिह्न आदि

जिस तरह ग्रन्थों के लेखन तथा उससे सम्बद्ध साधनों की आवश्यकता है उसी तरह अशुद्ध लिखे हुए ग्रन्थों के संशोधन की, उससे सम्बद्ध साधनों की और इतर संकेतों की भी उतनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही आवश्यकता होती है। इसीलिये ऐसे अनेकानेक प्रकार के साधन एवं संकेत हमें देखने तथा जानने को मिलते हैं।

साधन—हरताल आदि—ग्रन्थों के संशोधन के लिये कलम आदि की आवश्यकता तो होती ही है, परन्तु इसके अतिरिक्त अशुद्ध और अनावश्यक अधिक अक्षरों को मिटाने के लिये अथवा उन्हें परिवर्तित करने के लिये हरताल, सफेदा आदि की और खास स्थान अथवा विषय आदि की पहचान के लिये लाल रंग, धागा आदि की भी आवश्यकता होती है। ताड़पत्रीय पुस्तकों के जमाने में अक्षरों को मिटाने के लिए हरताल आदि का उपयोग नहीं होता था, परन्तु अधिक अक्षरों को पानी से मिटाकर उसे अस्पष्ट कर देते थे अथवा उन अक्षरों की दोनों ओर ९-९ ऐसा उलटा सीधा गुजराती नौ के जैसा आकार बनाया जाता था और अशुद्ध अक्षर युक्ति से सुधार लेते थे। इसी प्रकार विशिष्ट स्थान आदि की पहचान के लिये उन स्थानों को गेरू से रंग देते थे। परन्तु कागज का युग आने के बाद यद्यपि प्रारम्भ में यह पद्धति चालू रही किन्तु प्रायः तुरंत ही संशोधन में निरुपयोगी अक्षरों को मिटाने के लिये तथा अशुद्ध अक्षरों को परिवर्तित करने के लिये हरताल और सफेदे का उपयोग दिखाई देता है।

तूलिका, बट्टा, धागा—ऊपर निर्दिष्ट हरताल आदि लगाने के लिये तूलिका की आवश्यकता पड़ती थी तथा हरताल आदि के खुरदरेपन को दूर करने के लिये कौड़ी आदि से उसे पीस लेते थे। तूलिकाएं गिलहरी की दुम के बालों को कबूतर अथवा मोर के पंख के अगले पोले भाग में पिरोकर छोटी-बड़ी चाहिए वैसी हाथ से ही बना ली जाती थी अथवा आज की तरह तैयार भी अवश्य मिलती होगी। स्याही आदि घोंटने के लिये बट्टे भी अकीक आदि अनेक प्रकार के पत्थर के बनते थे। इनके अतिरिक्त ताड़पत्रीय ग्रन्थों के जमाने में ग्रन्थ के विभाग अथवा विशिष्ट विषय की खोज में दिक्कत या मेहनत न हो इसलिये ताड़पत्र के सुराख में धागा पिरोकर और उसके अगले हिस्से को ऐंठन लगाकर बाहर दिखाई दे इस तरह उसे रखते थे।

संशोधन के चिह्न और संकेत—जिस तरह आधुनिक मुद्रण के युग में विद्वान ग्रन्थ-सम्पादक तथा संशोधकों ने पूर्णविराम, अल्पविराम, प्रश्नचिन्ह, आश्चर्यदर्शक चिन्ह आदि अनेक प्रकार के चिह्न—संकेत पसन्द किए हैं, उसी तरह प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों के जमाने में भी उनके संशोधक विद्वानों ने लिखित ग्रन्थों में व्यर्थ काट-छांट, दाग-धब्बा आदि न हो, टिप्पन या पर्यायार्थ लिखे बिना वस्तु स्पष्ट समझ में आ जाय इसके लिये अनेक प्रकार के चिह्न किंवा संकेत पसंद किए थे, जैसे कि—(१) गलितपाठदर्शक चिह्न, (२) गलितपाठविभागदर्शक चिह्न,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) काना दर्शक चिह्न, (४) अन्याक्षरवाचनदर्शक चिह्न, (५) पाठपरावृत्तिदर्शक चिह्न, (६) स्वरसन्ध्यंशदर्शक चिह्न, (७) पाठान्तरदर्शक चिह्न, (८) पाठानुसन्धानदर्शक चिह्न, (९) पदच्छेददर्शक चिह्न, (१०) विभागदर्शक चिह्न, (११) एकपददर्शक चिह्न, (१२) विभक्तिवचनदर्शक चिह्न, (१३) टिप्पनक (विशेष नोट्स)- दर्शक चिह्न, (१४) अन्वयदर्शक चिह्न, (१५) विशेषण-विशेष्य-सम्बन्धदर्शक चिह्न और (१६) पूर्वपदपरामर्शक चिह्न। चिह्नों के ये नाम किसी भी स्थान पर देखने में नहीं आए परन्तु उनके हेतु के लक्ष में रखकर मैंने स्वयं ही इन नामों की आयोजना की है।

ग्रन्थ-संरक्षण के साधन

लिखित पुस्तकों के लिये दो प्रकार की कांबियों का (सं. कम्बिका = फुट जैसी लकड़ी की पट्टी) उपयोग किया जाता था। उनमें से एक बिलकुल चपटी होती थी और दूसरी हांस अर्थात् आगे के भाग में छोटे से खड्डेवाली होती थी। पहले प्रकार की कांबी का पुस्तक पढ़ते समय उँगली का पसीना या मैल का दाग उस पर न पड़े इसलिये उसे पन्ने पर रखकर उस पर उँगली रखने में किया जाता था। जिस तरह आज भी कुछ सफाईपसंद और विवेकी पुरुष पुस्तक पढ़ते समय उँगली के नीचे कागज वगैरह रखकर पढ़ते हैं ठीक उसी तरह पहले प्रकार की कांबी का उपयोग होता था। दूसरी तरह की कांबी का उपयोग पन्ने के एक सिरे से दूसरे सिरे तक या यंत्रादि के आलेखन के समय लकीरें खींचने के लिये किया जाता था।

कम्बिका के उपयोग की भांति ही पुस्तक मुड़ न जाय, बिगड़ न जाय, उसके पन्ने उड़ न जाय, वर्षाकाल में नमी न लगे—इस तरह की ग्रन्थ की सुरक्षितता के लिये कवली (कपड़े से मढ़ी हुई छोटी और पतली चटाई), पाठे अर्थात् पुट्ठे, वस्त्रवेष्टन, डिब्बे आदि का भी उपयोग किया जाता था। पाठे और डिब्बे निरुपयोगी कागजों की लुगदी में से अथवा कागजों को एक दूसरे के साथ चिपकाकर बनाए जाते थे। पाठे और डिब्बों को सामान्यतःचमड़े या कपड़े आदि से मढ़ लिया जाता था अथवा उन्हें भिन्न भिन्न प्रकार के रंगों से रंग लेते थे। कभी कभी तो उन पर लता आदि के चित्र और तीर्थंकर आदि के जीवनप्रसंग या अन्य ऐतिहासिक प्रसंग वगैरह का आलेखन किया जाता था। यह बात तो कागज की पुस्तकों के बारे में हुई। ताड़पत्रीय ग्रन्थ आदि के संरक्षण के लिये अनेक प्रकार की कलापूर्ण चित्रपट्टिकाएं बनाई जाती थी। उनमें सुन्दर-सुन्दरतम बेलबूटे, विविध प्राणी, प्राकृतिक वन, सरोवर आदि के दृश्य, तीर्थंकर एवं आचार्य आदि के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन प्रसंग आदि का चित्रण होता था। इसके लिये भी वस्त्र के वेष्टन तथा डिब्बे बनाए जाते थे और उनमें जीव-जन्तु न पड़े इसलिये असगन्ध (सं. अश्वगन्ध) के चूर्ण की वस्त्रपोट्टलिकाएँ—कपड़े की पोटलियाँ— रखी जाती थीं।

ग्रन्थसंग्रहों पर चौमासे में नमी और उष्णकाल में गरमी का असर न हो तथा दीमक आदि पुस्तकभक्षक जन्तुओं का उपद्रव न हो इसलिये उनके लायक स्थान होने चाहिए। ऐसे अत्यन्त सुरक्षित, सुगुप्त एवं आदर्शरूप माना जा सके ऐसा एक मात्र स्थान जैसलमेर के किले के मन्दिर में बचा हुआ है। इसमें वहां का श्रीजिनभद्रसूरि का ज्ञान भाण्डार सुरक्षित रूप में रखा गया है। छह सौ वर्षों से चला आता यह स्थान जैनमन्दिर में आए हुए भूमिगृह-तहखाने के रूप में हैं। छह सौ वर्ष बीत जाने पर भी इसमें दीमक आदि जीव-जन्तुओं का तथा सर्दी-गरमी का कभी भी संचार नहीं हुआ है। यह तो हमारी कल्पना में भी एकदम नहीं आ सकता कि उस जमाने के कारीगरों ने इस स्थान की तह में किस तरह के रासायनिक पदार्थ डाले होंगे जिससे यह स्थान और इसमें रखे गए ग्रन्थ अब तक सुरक्षित रह सके हैं। ज्ञानभाण्डारों के मकान जिस तरह सुरक्षित बनाए जाते थे उसी तरह राजकीय विप्लव के युग में ये मकान सुगुप्त भी रखे जाते थे।

जैसलमेर के किले का उपर्युक्त स्थान निरुपद्रव, सुरक्षित एवं सुगुप्त स्थान है। इसके भीतर के तीसरे तहखाने में ज्ञानभण्डार रखा गया है और उसका दरवाजा इतना छोटा है कि कोई भी व्यक्ति नीचे झुककर ही इसमें प्रविष्ट हो सकता है। इस दरवाजे को बन्द करने के लिये स्टील का ढक्कन बनाया गया है और विप्लव के प्रसंग पर इसके मुँह को बराबर ढँक देने के लिये चौरस पत्थर भी तैयार रखा है जो इस समय भी वहाँ विद्यमान है। इसके बाद के दो दरवाजों के लिये भी बन्द करने की कोई व्यवस्था अवश्य रही होगी परन्तु आज उसका कोई अवशेष हमारे सामने नहीं है। तहखाने में नीचे उतरने के रास्ते के मुख के लिये ऐसी व्यवस्था की गई है कि विप्लव के अवसर पर उसे भी बड़े भारी पहाड़ी पत्थर से इस तरह ढांक दिया जाय जिससे किसी को कल्पना भी न आ सके कि इस स्थान में कोई चीज छिपा रखी है। तहखाने के मुँह को ढँकने का उपर्युक्त महाकाय पत्थर इस समय भी वहाँ मौजूद है।

जिस तरह ज्ञानसंग्रहों को सुरक्षित रखने के लिए मकान बनाए जाते थे उसी तरह उन भाण्डारों को रखनेके लिये लकड़ी या पत्थर की बड़ी बड़ी मजूसा (सं. मंजूषा=पेटी) या अलमारियाँ बनाने में आती थीं। प्राचीन ज्ञानभाण्डारों के जो थोड़े-बहुत स्थान आज तक देखने में आए हैं उनमें अधिकांशतःमजूसा ही देखने में आई है। पुस्तकें निकालने तथा रखने की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुविधा एवं उनकी सुरक्षितता-अलमारियों में होने पर भी मजूसा ही अधिक दिखाई देती हैं। इसका कारण उनकी मजबूती और विप्लव के समय तथा दूसरे चाहे जिस अवसर पर उनके स्थानान्तर संचारण की सरलता ही हो सकता है। यही कारण है कि इन मजूसों को पहिए भी लगाए जाते थे। यह बात चाहे जैसी हो, परन्तु ग्रन्थ-संग्रह की सुरक्षितता और लेने-रखने की सुविधा तो ऊर्ध्वमहामंजूषा अर्थात् अलमारी में ही है। जैसलमेर के तहखाने में लकड़ी एवं पत्थर की मजूसाएँ तथा पत्थर की अलमारियाँ विद्यमान थीं परन्तु मेरे वहाँ जाने के बाद वे सब वहाँ से हटा लिए गए हैं, और उनके स्थान में वहाँ पर स्टील की अलमारियाँ आदि बनवाई गई हैं। हम जब जैसलमेर गए तब वहाँ का ग्रन्थसंग्रह उपर्युक्त मजूसाओं में रखने के बदले पत्थर की अलमारियों में रखा जाता था। बड़ी मारवाड़ में लकड़ी की अपेक्षा पत्थर सुलभ होने के कारण ही उनकी अलमारियाँ बनाई जाती थी। अत: इनकी मजबूती आदि के बारे में किसी भी प्रकार के विचार को अवकाश ही नहीं है।

जैन श्रीसंघ का लक्ष्य ज्ञानभाण्डार बसाने की ओर जब केन्द्रित हुआ तब उसके सम्मुख उनके रक्षण का प्रश्न भी उपस्थित हुआ। इसके प्रश्न के समाधान के लिये दूसरे साधनों की तरह उसने एक पर्व-दिवस को भी अधिक महत्त्व दिया। यह पर्व है ज्ञानपंचमी—कार्तिक शुक्ला पंचमी का दिन। समूचे वर्ष की सर्दी, गरमी तथा नमी जैसी ऋतुओं की विविध असरों में से गुजरी हुई ज्ञानराशि को यदि उलट-पुलट न किया जाय तो वह असमय में ही नाशाभिमुख हो जाय। अत: उसे बचाने के लिये उसकी हेरफेर वर्ष में एक बार अवश्य करनी चाहिए जिससे उनकी अनेकविध विकृत असर दूर हो और शास्त्र सदा आरोग्य-दशा में रहें। परन्तु विशाल ज्ञानभाण्डारों के उलट फेर का यह काम एकाध व्यक्ति के लिये दुष्कर और थकाने वाला न हो तथा अनेक व्यक्तिओं का सहयोग अनायास ही मिल सके इसलिये इस धर्म-पर्व की योजना की गई है। आज इस धार्मिक पर्व को जो महत्त्व दिया जाता है उसके मूल में प्रधान रूप से तो यही उद्देश था, परन्तु मानवस्वभाव के स्वाभाविक छिछलेपन तथा निरुद्यमीपन के कारण इसका मूल उद्देश विलुप्त हो गया है और उसका स्थान बाहरी दिखावे एवं स्थूल क्रियाओं ने ले लिया है।

ज्ञान भाण्डारों में उपलब्ध सामग्री

ये ज्ञानभाण्डार विविध दृष्टि से समृद्ध और महत्त्व के हैं। इनकी मुख्य विशेषता यह है कि इनका संग्रह यद्यपि जैनों ने किया है फिर भी वे मात्र जैनशास्त्रों के संग्रह तक ही मर्यादित नहीं हैं। उनमें जैन-जैनेतर अथवा वैदिक-बौद्ध-जैन, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती, हिन्दी, मराठी, फारसी आदि भाषाओं का जैन-जैनेतर ऋषि-स्थविर-आचार्यों के रचे हुए धर्मशास्त्रों के अतिरिक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार, मंत्र, तंत्र, कल्प, नाट्य, नाटक, ज्योतिष, लक्षण, आयुर्वेद, दर्शन एवं संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषा के चरित्र-ग्रन्थ, रास आदि विविध साहित्य विद्यमान है। संक्षेप में हमें यह कहना चाहिए कि इन भाण्डारों का सच्चा महत्त्व इनकी व्यापक और विशाल संग्रहदृष्टि के कारण ही है। जिस तरह इन विशाल भाण्डारों में विविध प्रकार के लेखन-संशोधन-रक्षण विषयक साधन एवं संग्रह है उसी प्रकार ताड़पत्र, कागज और कपड़े के ऊपर काली, लाल, सुनहली, रुपहली आदि अनेक प्रकार की स्याही से लिखे हुए अनेक आकार-प्रकार के अत्यन्त सुन्दर और कलापूर्ण सचित्र-अचित्र पत्राकार, गुटकाकार कुंडली-आकार लिखे हुए ग्रन्थ विद्यमान हैं। अनेक प्रकार के सचित्र-अचित्र विज्ञप्तिपत्र, तीर्थयात्रादि के चित्रपट, यंत्रपट, विद्यापट आदि का विशाल संग्रह इन भाण्डारों में है। जैनों ने इन भाण्डारों के संग्रह के लिये हार्दिक मनोयोग के साथ ही साथ अपनी सम्पत्ति पानी की तरह बहाई है। इसी तरह इनके संरक्षण के लिये भी उन्होंने सभी संभव उपाय किए हैं।

इस प्रकार ज्ञानभाण्डार, उनमें उपलब्ध सामग्री एवं ग्रन्थराशि तथा उनकी व्यवस्था आदि के बारे में हमने संक्षिप्त वर्णन यहां पर किया। विशाल एवं वैविध्यपूर्ण इन ग्रन्थरत्नों का परीक्षक सम्यक् उपयोग करें—यही हमारी आन्तरिक अभिलाषा है।

□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org